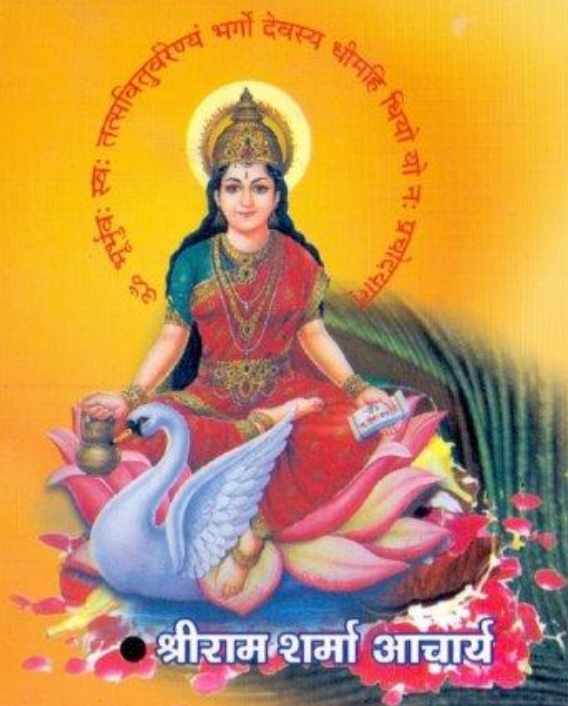




गायत्री मंत्र के **चो** अक्षर की व्याख्या

# स्वाध्याय और सत्संग



● श्रीराम शर्मा आचार्य

# स्वाध्याय और सत्संग

गायत्री का बाईसवीं अक्षर 'चो' सत्संग और स्वाध्याय के लाभों को बतलाता है-

चोदयत्येव सत्संगो धियमस्य फलं महत् ।

स्वमतो सज्जै विद्वान् कुर्यात् पर्यावृतं सदा ॥

अर्थात्—'सत्संग से बुद्धि का विकास होता है, इसलिये सदैव सत्पुरुषों का संग करे । सत्संग का फल महान् है ।'

मनुष्य के मस्तिष्क पर वातावरण, स्थान, परिस्थिति और व्यक्तियों का निश्चित रूप से भारी प्रभाव पड़ता है । जो लोग अच्छाई की दिशा में अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि अपने को अच्छे वातावरण में रखें, अच्छे लोगों को अपना मित्र बनावें, उन्हीं से अपना व्यापार, व्यवहार और सम्बन्ध रखें । जहाँ तक सम्भव हो परामर्श, उपदेश और मार्ग-प्रदर्शन भी उन्हीं से प्राप्त करें ।

यथासाध्य अच्छे व्यक्तियों का सम्पर्क बढ़ाने के अतिरिक्त, अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय भी ऐसा ही उपयोगी है । जिन जीवित या स्वर्गीय महापुरुषों से प्रत्यक्ष सत्संग सम्भव नहीं, उनकी पुस्तकें पढ़कर सत्संग का लाभ उठाया जा सकता है । एकान्त में स्वयं भी अच्छे विचारों का चिन्तन और मनन करके तथा अपने मस्तिष्क को उसी दिशा में लगाये रहने से भी आत्म-सत्संग होता है । ये सभी प्रकार के सत्संग आत्मोन्नति के लिये आवश्यक हैं ।

शरीर, वस्त्र, मकान वर्तन आदि की सफाई नित्य करनी पड़ती है, क्योंकि नित्य ही उन पर मैल जमता रहता है । इसी प्रकार मन पर भी संसार के बुरे वातावरण का मैल और कृप्रभाव निरंतर पड़ता रहता है, उसकी सफाई के लिये सत्संग और स्वाध्याय की बुहारी लगाने को शास्त्रों में नित्यकर्म बताया गया है । 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा है कि जिस दिन भी स्वाध्याय न किया जाया उसी दिन मनुष्य की स्थिति शूद्र जैसी हो जाती है । इस नित्य-कर्म में मनुष्य को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

अच्छे विचारों के धारण करने से ही कुविचार दूर होते हैं । कटोरे  
स्वाध्याय और सत्संग )

में पानी भर देने से उसमें जो हवा पहले भरी हुई थी, वह निकल जाती है। इसी प्रकार कृविचारों से, सत्यानाशी शत्रुओं से पीछा छुड़ाना हो और परम कल्याणकारी सद्विचारों को अपनाना हो तो यह आवश्यक है कि स्वाध्याय और सत्संग के लिये सदैव प्रयत्न करके अवसर निकालते रहें।

## मनुष्य पर परिस्थितियों का प्रभाव

सत्संग का अर्थ केवल साधु-महात्माओं के पास जाकर उनके उपदेश सुनने से नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि हम जन्म के कुछ समय बाद से ही जो कुछ सीखते हैं, जैसा स्वभाव ग्रहण करते हैं, वह सब संगति का ही परिणाम होता है। हम आरम्भ से जिस परिस्थिति में रहते हैं वह भी एक प्रकार की संगति है, क्योंकि वह किसी न किसी व्यक्ति द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। इन्हीं सब प्रभावों से मिल कर मानव जीवन का निर्माण होता है।

विद्वान् बेकन का कथन है कि 'मनुष्य कोरे कागज के समान है। वह जिन परिस्थितियों में रहता है, जिन विचारों से प्रभावित होता है, उसी ढुँचे में ढल जाता है।' एक सच्चा जैनी अपने धार्मिक विश्वासों की प्रेरणा से जीव दया को अपना धर्म मानता है। किन्तु एक सच्चा मुसलमान, अपने मजहब में अत्यन्त निष्ठा रखता हुआ ईश्वर के नाम पर कई पशुओं की कुर्बानी करता है। यदि दोनों के अन्तःकरणों की परीक्षा की जाय तो दोनों ही समान रूप से अपने को धर्मारूढ़ अनुभव करते पाये जायेंगे। जैनी का दृढ़ विश्वास है कि जीव दया करके मैंने उचित कर्तव्य किया। इसी प्रकार मुसलमान का भी निश्चित मत है कि उसने पशु बघ करके ईश्वरीय आज्ञा का पालन किया।

जीव दया और पशु बघ यह दोनों कार्य आपस में एक दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं फिर भी विचार भिन्नता के कारण सच्चे भाव से उन्हें अपनी अपनी दृष्टि से ठीक मानते हैं। योरोपियन लोग मलत्याग के उपरान्त कागज द्वारा पोंछ कर शुद्धि कर लेते हैं, उनकी इस प्रथा को हिन्दू लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं। एक योरोपियन महिला से इस विषय में हमारी एक बार बहुत बातचीत हुई। उन्होंने हिन्दुओं की एक लोटा

जल से मल शुद्धि करने को बहुत बुरा बताया । उनका कहना था कि इस प्रकार विष्ठा का कुछ भाग पानी में मिल कर गुदा स्थान के चारों ओर फैल जाता है और इससे अशुद्धि और भी बढ़ जाती है । यदि जल से शुद्धि करनी हो तो नल के नीचे झुक कर बहुत देर तक शुद्धि करनी चाहिये अन्यथा एक लोटे जल से की हुई शुद्धि तो अशुद्धि को और अधिक बढ़ा देने वाली है । उन महिला की दृष्टि से कागज की शुद्धि उचित थी और जल की शुद्धि घृणित । हिन्दु कागज की शुद्धि को घृणित मानते हैं और योरोपियन जल की शुद्धि को । हम लोग गोबर से घर लीप कर शुद्धि अनुभव करते हैं । किन्तु पाश्चात्य देशवासी मनुष्य की विष्ठा की भांति पशु की विष्ठा को भी गंदी मानते हैं और गोबर से लीपे हुए स्थान को गंदा एवं घृणित समझते हैं । एक कार्य को एक व्यक्ति उचित समझता है, दूसरा अनुचित ।

नगे बदन रहना हमारे यहां त्याग का चिन्ह है किन्तु दूसरे देशवासीयों की दृष्टि में वह असभ्यता का चिन्ह है । हिन्दू की दृष्टि में वेद ईश्वरीय संदेश है किन्तु दूसरी जाति के लोग उन्हें एक भजन पूजा की बेढंगी किताब से अधिक कुछ नहीं मानते । विधवा का विवाह हमारे समाज में एक भयंकर बात है पर अन्य जातियों में वह एक बिलकुल साधारण और स्वाभाविक प्रथा है । एक दो नहीं असंख्यों उदाहरण ऐसे मिल सकते हैं, जिसे यह सिद्ध होता है कि परस्पर विरोधी दो बातों को लोग अपने अपने दृष्टिकोण से बिलकुल सत्य समझते हैं और निष्कपट मन से अपने विश्वासों को ठीक अनुभव करते हैं ।

विचारणीय बात यह है कि परस्पर विरोधी दो बातों में से एक सत्य होनी चाहिये दूसरी असत्य । परन्तु फिर यह देखा जाता है कि वे दोनों ही बातें अपने अपने क्षेत्र में सत्य समझी जाती हैं । हमारे लिए वेद ईश्वरीय पुस्तक है, पर मुसलमान के लिए कुरान के अतिरिक्त अल्लाह का कलाम दूसरा नहीं है । वेद और कुरान में काफी भत भेद हैं, यदि दोनों ईश्वर के कलाम हैं तो परस्पर विरोधी बातें क्यों ? यदि इन में से एक ईश्वर की वाणी है तो दूसरे को असत्य मार्ग पर मानना पड़ेगा । इस गड़बड़ी का उचित समाधान कुछ नहीं । सत्य क्या है ? यह गुत्थी अभी तक उलझी हुई ही पड़ी है । मनुष्य जिन विचारों और कार्यों को सत्य

माने बैठा है उनमें कितना अंश सत्य का है कितना असत्य का, यह अभी निर्णय होना बाकी है । मानव बुद्धि धीरे धीरे आगे बढ़ती जा रही है, एक दिन वह तत्व को खोज ही निकालेगी, ऐसी आशा करनी चाहिए । परन्तु आज यह कहना कठिन है कि जिन बातों को लोग उचित सत्य धर्म माने बैठे हैं वह वास्तव में वैसी हैं या नहीं ।

इस गुथी की मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार जो विवेचना होती है उससे विद्वान वेकन के मत की पुष्टि होती है 'मनुष्य कोरे कागज के समान है । वह जिन परिस्थितियों के बीच रहता है, वैसा ही बन जाता है ।' एक ही माता पिता से उत्पन्न दो बालकों में से एक हिन्दू को पालन पोषण के लिए दिया जाय और दूसरा अग्रेज को । तो वे बालक अपने अपने संरक्षकों की भाषा ही बोलेंगे, वैसे ही आचार-विचारों को अपनायेंगे । अफ्रीका के जंगल में एक भेड़िया मनुष्य के दो बालक पकड़ ले गया, कुछ ऐसा आश्चर्य हुआ कि उन बच्चों को उसने खाया नहीं वरन् पाल लिया । बड़े होने पर यह बच्चे भेड़ियों की तरह गुरति थे, चार पावों से चलते थे और शिकार मार कर कच्चा मांस खाते थे, इन बालकों को शिकारियों ने पकड़ कर मनोवैज्ञानिकों के सामने परीक्षार्थ पेश किया था । इन बातों से जाना जाता है कि मनुष्य सचमुच कौरा कागज है । जिन लोगों के बीच वह रहेगा, उसी प्रकार का स्वभाव ग्रहण करेगा और बहुत अंशों में वैसा ही बन जायेगा । उसके विचार और विश्वास भी उसी ढाँचे में ढल जावेंगे ।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि 'संगति' के असर से मनुष्य की जीवन यात्रा आरंभ होती है और इसी के प्रभाव से उस में हेरफेर होता है । विचार बदलते हैं, विश्वास बदलते हैं, कार्य बदलते हैं, स्वभाव बदलते हैं । वायु के थपेड़ों में उड़ता हुआ सूखा पत्ता इधर-उधर उड़ता फिरता है । उसी प्रकार संगति और परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्रिया पद्धति बनती है और फिर उसी के प्रभाव से कुछ से कुछ बन जाते हैं । आचार्य फ्रायड का मत है कि 'मनुष्य गीली मिट्टी के समान है जो प्रभाव के ढाँचे में ढलता और ढाला जाता है । हम देखते हैं कि असंख्य प्रतिभाशाली, सुतीक्ष्ण, मनोभूमि वाले लोग अपनी शक्ति का उपयोग तुच्छ कार्यों में कर रहे हैं । यदि वे

शक्तियों किन्हीं महत्वपूर्ण कार्यों में लगतीं तो अपना और दूसरों का बहुत कुछ भला कर सकती थीं । प्रभाव और परिस्थितियों ने, संगति और शिक्षाने, उन्हें जिधर लगा दिया वे लग गईं, और लगी रहेंगी ! चाहे वह मार्ग उचित हो या अनुचित ।

भारतीय धर्माचार्यों ने मानव प्राणी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी गंभीरता एवं तत्परता से किया था । वे इस सत्य को समझते थे कि मनुष्य सिद्धांत की दृष्टि से कुछ भी क्यों न हो परन्तु व्यवहारतः वह 'परिस्थितियों का गुलाम है ।' संगति के प्रभाव से वह कुछ बनता है और बन सकता है । इसलिये हर व्यक्ति को समय—समय पर ऐसी परिस्थितियों और प्रभावों के सम्पर्क में आते रहना चाहिए जो ऊँचा उठाने वाली हों, उत्तम प्रभाव डालनेवाली हों । हिन्दू धर्म में तीर्थ यात्रा का महत्व इसी दृष्टि से स्थापित किया गया है । साधारण कामकाजी लोगों की योग्यता, विद्या, साधना, सच्चरित्रता और तपस्या ऊँचे दर्जे की नहीं होती । यह तो उन्हीं में पाई जाती है जो ब्राह्मण वृत्ति को अपनाकर लोक सेवा, ईश्वर आराधना, स्वाध्याय, और साधना में प्रवृत्त रहे हैं । जहाँ ऐसे ब्रह्मर्षि जल वायु की उत्तमता के कारण, एवं ऐतिहासिक महत्व के कारण, अधिक संख्या में रहते हैं, वह स्थान तीर्थ कहे जाते हैं । तीर्थयात्रा में वायु परिवर्तन होता है, ऐतिहासिक स्मृतियों का अनुभव होता है और उन ब्रह्मर्षियों से सत्संग करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, जिनमें दूसरों पर अच्छा असर डालने की योग्यता का बाहुल्य होता है । तीर्थ यात्रा में पुण्य फल प्राप्त होता है इसका तात्पर्य यही है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों की संगति का उत्तम प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के कारण अपने अन्दर जो सद्गुण उत्पन्न होते हैं उनके फल स्वरूप सुख दायक आनन्दमयी परिस्थितियों उत्पन्न होती हैं ।

आज तीर्थ स्थानों का वातावरण वैसा नहीं रहा है तो भी वह प्राचीन सिद्धान्त, आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है । स्थूल शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को, मनोभूमि को, स्वस्थ रखने के लिए सत्संग की आवश्यकता होती है । स्मरण रखिये मनुष्य कोरे कागज के समान है, गीली मिट्टी के समान है, उस पर संगति का प्रभाव पड़ता है । इसलिए उन्नतिशील, आनन्दमय, स्वाध्याय और सत्संग )

सतोगुणी प्रभाव अपने ऊपर ग्रहण करने के लिए, सत्संग का अवसर तलाश करते रहना चाहिए और जब भी मौका प्राप्त हो उससे लाभ उठाना चाहिए ।

कथा प्रसिद्ध है कि एक बार विश्वामित्र ने वशिष्ठ को अपनी हजार वर्षों की तपस्या दान कर दी, बदले में वशिष्ठ ने एक क्षण के सत्संग का फल विश्वामित्र को दिया । विश्वामित्र ने अपना अपमान समझा । उन्होंने पूछा कि मेरे इतने बड़े दान का बदला आपने इतना कम क्यों दिया ? वशिष्ठ जी विश्वामित्र को शेषजी के पास फँसला कराने ले गये । शेषजी ने कहा मैं पृथ्वी का बोझ धारण किये हूँ । तुम दोनों अपनी वस्तु के बल से मेरे इस बोझ को अपने ऊपर ले लो । हजार वर्ष के तपोबल की शक्ति से वशिष्ठ पृथ्वी का बोझ न उठा सके, किन्तु क्षण भर के सत्संग के बल से विश्वामित्र ने पृथ्वी को उठा लिया । तब शेषजी ने फँसला किया कि हजार वर्ष की तपस्या से क्षण भर के सत्संग का फल अधिक है ।

अच्छे व्यक्तियों की संगति के लिए कुछ अन्य कार्य हर्ज करने पड़ें, पैसा खर्च करना पड़े तो करना चाहिए, क्योंकि यह हानि बीज रूप है, जो अन्त में हजार गुनी होकर लौटती है । जो अपने जीवन को उच्च बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि स्वाध्याय के लिए कुछ समय नित्य निकालें, श्रेष्ठ पुरुषों की उत्तम रचनायें जो ऊँचा उठाने वाली हों, नित्य पढ़ें । स्वाध्याय करना घर बैठे सत्संग करना है । इसके अतिरिक्त उत्तम विचारवान श्रेष्ठ पुरुषों के पास बैठने, उनसे प्रश्न पूछने, उनके आदर्शों और स्वभावों का अनुकरण करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । लोहे को सोना बना देने की शक्ति पारस पत्थर में होती है, और पशु को मनुष्य बना देने की क्षमता सत्संग में पाई जाती है । पारस पत्थर अप्राप्य है पर सत्संग की इच्छा करें तो उसे अपने समीप ही प्राप्त कर सकते हैं ।

ध्यान रखना चाहिए कि हमारे आस पास बुरा प्रभाव डालनेवाला वातावरण तो नहीं है, यदि हो तो उससे सावधान रहने और बचते रहना चाहिए । स्मरण रखना चाहिए कि जीवन को ऊँचा उठाने की शक्ति सत्संग में है अतएव इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए । विद्वान बेकन का कथन है कि मनुष्य कोरे कागज के समान है । पतन और

उन्नति बहुत कर निकटस्थ प्रभाव के ऊपर निर्भर हैं इसलिए अपने को बुरे भावों से बचाने और अच्छे प्रभावों की छाया में लाने का प्रयत्न करते रहिये ।

भौतिक जगत में हम देखते हैं कि जब एक वस्तु दूसरे के साथ रहती है तब उन वस्तुओं में उनके गुणों का परस्पर आदान प्रदान होता है । अग्नि जल को गर्म करती और जल अग्नि को ठंडा करता है । उसी प्रकार सत्संग द्वारा भी परस्पर गुणों का आदान प्रदान होता है ।

एक साधारण पुरुष जब महात्माओं के बीच में पहुँच जाता है तब वह क्रमशः शुद्ध होने लगता है । उसका वातावरण बदल जाता है । मनुष्य अपनी परिस्थितियों से प्रभावित रहता है । यदि वह छली, कपटी और धूर्त लोगों के बीच में पड़ गया है तो वह प्रत्येक व्यक्ति को सन्देह भरी दृष्टि से देखने वाला बन जायेगा । उसे सब लोग कपटी और स्वार्थी प्रतीत होंगे और वह किसी के साथ स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवहार न कर सकेगा । किंतु यदि वही व्यक्ति महात्मा पुरुषों के बीच में रहने लगे तो उनके त्याग-पूर्ण व्यवहारों से उसे यह अनुभव होगा कि मनुष्य का स्वभाव दिव्य है । उसे उनके साथ किसी तरह का सदेह न होगा एवं वह सबके साथ खुलकर व्यवहार करेगा । इस तरह का वातावरण जीवन के लिए एक विडम्बना है और हम देखते हैं कि मनुष्य जिस तरह के लोगों के बीच में रहता है उसकी धारणाएँ तदनुकूल हो जाती हैं और उसके व्यवहार से हम पता लगा सकते हैं कि वह किस प्रकार के वातावरण में पला है ।

यदि कोई व्यक्ति ऐसे वातावरण में पहुँच जावे जहाँ लोग उसे मूर्ख, अस्पृश्य और घृणास्पद समझने लगे तो उसके चित्त में आत्महीनता की ग्रंथि का निर्माण होने लगेगा और उसकी शक्तियाँ कुंठित होने लगेंगी । वह अपना आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव और निर्भीकता खो बैठेगा और दुखी बन जावेगा, भारतवर्ष के अछूतों का यही हाल हुआ है । उन्हें जन्म जन्मांतर से बुरे संकेत दिए गए हैं, जिन्हें हम पुनर्जन्म के सिद्धांत की आड़ में उचित और पाप-परिष्कालक कहते रहे हैं । इन संकेतों ने ही उन्हें दास स्वभाव वाला बनाया है । ऐसा वातावरण सचमुच जीवन के लिए एक अभिशाप है ।



जिन्हें अपनी श्रेष्ठता का अभिमान होता है उनके बीच में रहना मारों अपने जीवन को दुखी बना लेना है । किंतु यदि हम महात्माओं के बीच में रहें तो निश्चय ही हमारे अन्तराल में उनके सद्ब्यवहारों के कारण आत्महीनता की ग्रंथि का निर्माण नहीं हो सकता । इनके साथ रहने से तो उल्टे ही ये ग्रंथियाँ मिट जाती हैं । जिस तरह कोई मनःशास्त्र विशेषज्ञ अपनी सहानुभूति के द्वारा चिकित्सा करते समय रोगी के गुप्त मनोभावों और रहस्यों को उससे कहलवा लेता है और ग्रन्थि पड़ने के कारण को जानकर उसका निराकरण कर देता है उसी तरह सन्त-समाज में हमारे हृदय की गुत्थियाँ उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण खुल पड़ती हैं और हम अनुभव करते हैं कि हमारा हृदय हल्का हो गया और हमारे दीर्घ रोग की चिकित्सा हो गई ।

संतों के समागम में रहकर हमें जीवन के प्रति स्वास्थ्यप्रद दृष्टिकोण प्राप्त होता है । उद्देश्य हीन जीवन के स्थान में हमारा जीवन उद्देश्य युक्त हो जाता है और हम दूसरों का अन्यायन नहीं करते ।

मनुष्य के आचार विचार के लिए उसका वातावरण बहुत अंशों में उत्तरदायी है । अतएव यदि मनुष्य अपने वातावरण को बदल डाले तो उसके आचार विचार और स्वभाव में परिवर्तन सहज ही हो जायेगा । किन्तु वातावरण को बदलना, कहने में जितना सरल है, वास्तव में वह उतना सरल नहीं । सच तो यह है कि वातावरण को बदलना ही परोक्ष रूप से अपने आचार-विचार को बदलना है, अतएव उसका बदलना उतना ही कठिन है जितना कि आचार विचारों का । उदार हृदय सहृदय व्यक्तियों का संग सबके लिए सुलभ है । गीता आदि धर्म पुस्तकों का संग सबको सुलभ है । प्रत्येक व्यक्ति बे रोकटोक उनका सत्संग कर सकता है किन्तु फिर भी उनके सत्संग से अनेकों प्राणी वंचित रहते हैं । उनका चित्त ही उन्हें उस सत्संग से वंचित रखता है । उनके हृदय में जो पूर्व संस्कार हैं वे ही बाधा डालते हैं और उन्हें सत्संग रुचता नहीं । बिना आचार-विचार बदले न तो हम सत्संग के योग्य बनते हैं और न बिना संगी साथियों को बदले हमारे आचार-विचार ही बदल सकते हैं । हमारे आचार-विचार और परिस्थितियाँ परस्पर एक दूसरे के परिणाम अथवा प्रतिबिम्ब हैं । अतएव अच्छे आचार-विचार वाला व्यक्ति ही

सत्संग कर सकता है और हम कह सकते हैं कि जो महात्माओं का संग करता है उसका मानसिक धरातल निश्चय ही उच्च होना चाहिए ।

सत्संग द्वारा आचार-विचार बदलने से मनुष्य के जीवन का दृष्टिकोण भी बदलना अनिवार्य है । जो व्यक्ति आज प्रत्येक कार्य करते समय व्यक्तिगत लाभ का लेखा-जोखा करता है वहीं व्यक्ति सत्संग के प्रभाव से उन्हीं कार्यों को सामाजिक लाभ अथवा लोक-संग्रह की दृष्टि से करने लगे, यह भी सम्भव है । गाँधी जी के प्रभाव में आकर अनेकों धनिकों ने अपने दृष्टिकोण को बदला, यह तो सभी जानते हैं ।

सत्संग से हमें अपने ध्येय की ओर तीव्रगति से बढ़ने के लिए प्रेरणा मिलती है । अपने आध्यात्मिक विकास के लिए साधन करना जिनका सहज स्वभाव हो गया है, उनके लिए सत्संग की आवश्यकता भले न हो किंतु इतर जनों के लिए यह उत्साह वर्द्धक है । जिस विद्यार्थी ने व्यायाम करना अभी-अभी शुरु किया है वह घर पर नित्य नियमित रूप से अकेले ही कितने दिनों तक व्यायाम करेगा । किंतु यदि वही विद्यार्थी, अन्य व्यायाम प्रिय विद्यार्थियों का संग पा जावे, तो उसके उत्साह में शिथिलता न आने पायेगी और धीरे धीरे व्यायाम करना उसका सहज स्वभाव हो जावेगा और फिर वह अकेले रहने पर भी उसी उत्साह से व्यायाम करता जावेगा । अतएव यदि आरम्भिक अभ्यासी को तीव्रगति से उन्नति करना है तो उसके लिये सत्संग अनिवार्य है ।

जिस तरह कीड़े पर भृंगी का प्रभाव पड़ता है उसी तरह सत्संग के द्वारा भी साधकों पर श्रेष्ठजनों का प्रभाव पड़ता है । यदि आप एक साधारण लौकिक प्राणी हैं और आपको किसी महात्मा-पुरुष की कृपा प्राप्त है तो उससे पत्र-व्यवहार करने में और उसके दर्शन करने में आपको जो समय बिताना पड़ेगा उसके कारण आपके विचार बहुत कुछ उसकी ओर खिंचे रहेंगे और आपके जीवन का एक पर्याप्त हिस्सा उनके सत्संग सम्बन्धी विषयों के विचार में ही व्यतीत होगा और आप भृंगी कीट-न्याय की नाईं धीरे धीरे उनके ढांचे में ही ढलते चले जावेगे । इसलिए कहा है—‘महत्संगो दुर्लभश्चामोघश्च’

# सत्संग की महिमा अपार है

सभी देशों और कालों के महापुरुषों ने आत्म-कल्याण के लिये सत्संग को सर्वोत्तम साधन बतलाया है । वैसे तो प्रत्येक सज्जन की संगति लाभदायक होती है, पर जिन सत्पुरुषों ने अपने जीवन को परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में ही लगा रखा है और सांसारिक प्रपन्चों को त्याग दिया है, उनके उपदेश सुनने तथा उनके समीप बैठने से मनुष्य के विचारों और आचार में निर्मलता की वृद्धि विशेष रूप से हो सकती है । सत्संग के प्रभाव से ही मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होकर कल्याण मार्ग का दर्शन हो सकता है ।

आज का सामाजिक जीवन इतना विषम बन गया है जिसमें दरिद्रता, अभाव, उत्पीड़न और करुणा का तांडव नर्तन हो रहा है । मनुष्य की अवांछनीय असीमित इच्छाएँ तदनुकूल समस्याएँ वटवृक्ष की सुगुम्फित जटाओं की भाँति इतनी जटिल हो गई हैं जिनका निराकरण मानव शक्ति से परे है । आज के सामाजिक कल्याणकारी कहलाने वाले मनुष्य कुसंगति में पड़कर कर्तव्य पथ से भ्रष्ट हो रहे हैं । सत्पुरुषों का साथ उन्हें भाता नहीं, साधु संतो के प्रवचन उन्हें कड़वी औषधि की भाँति लगते हैं फलस्वरूप चारों ओर संतों का साथ तो 'सर्वभूत हिते रतः' वाली भावना उत्पन्न कराता है तथा दूसरों के कष्टों के निवारणार्थ आत्मबल प्रदान करता है । जैसा कि कवीरदास जी ने भी कहा है ।

कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि ।

ओछी संगति क्रूर की आठों पहर उपाधि ॥

आत्म सुख और परम शान्ति के लिये साधु महात्माओं संतों का सत्संग परमावश्यक है । इसके बिना जीवन का कोई आस्वादन नहीं । इस सत्संग के पुण्य लाभ के निमित्त ही नर देह धारण करने के लिये देवगण भी लालायित रहते हैं ।

वेदशास्त्रों में ईश्वरीय साक्षात्कार के निमित्त तीन प्रकार के मार्ग बतलाए गये हैं । ज्ञान, कर्म और भक्ति । इनमें ज्ञान का पथ तलवार की धार की भाँति प्रखर और सर्व साधारण की बुद्धि से परे की बात है । कर्म करने वाला पुरुष जब पाप, पुण्य, उचित अनुचित के संगम पर पहुँचता है तो कदाचित किंकर्तव्य विमूढ़ सा हो जाता है । अतएव स्वभक्ति ही एक मात्र साधारणजनों का अटूट सहारा रह जाता है, परन्तु इस

आनन्द और सुख के उपभोग के लिये प्रथम सत्संगति आवश्यक है ।  
गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति सरोवर में स्नान करने के इच्छुक जनों  
से स्पष्ट शब्दों में कहा—

**जो नह्यइ घह यह सर भाई । तौ सत्संग करै मन लाई ॥**

वस्तुतः ज्ञान और कर्म, सर्व प्रथम सत्संग से ही अनुप्रेरित होते हैं  
जिसके लिए प्रभु की अनुकम्पा अपेक्षित है, जैसा कहा गया है कि—

**बिनु सत्संग विवेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥**

सत्पुरुषों के साहचर्य से केवल भगवत् भक्ति ही प्राप्त नहीं होती,  
अपितु पुरुष की अमानुषिक प्रवृत्तियों का भी इससे परिष्कार होता है ।  
सत्संगति तो पारस मणि के तुल्य है । इसके बिना भगवद् भजन, संकीर्तन,  
यजन, ध्यान, पूजन, अर्चन, वन्दन असंभव नहीं तो दुस्तर अवश्य है ।  
मुसाई जी के शब्दों में—

**बिनु सत्संग न हरि कथा तैहि बिनु मोह न भाग ।**

**मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥**

प्रभु के चरणाम्बुजों में प्रेम की दृढ़ता के लिए सत्संग अपेक्षित है ।  
विद्वानों ने संत समाज के इष्मात्र से ही अनेक पापों को मिटाना  
बतलाया है । केवल एक घड़ी में ही—

**एक घड़ी आधी घड़ी और आध कौ आध ।**

**तुलसी संगति साधु की कोटिन हरै व्याधि ॥**

सत्संग की महिमा का उल्लेख करते हुए श्री भृगुहरि जीने अपने  
'नीतिशतक' में लिखा है ।

**जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं  
मानोन्नति दिशति पाप मया करोति  
चेत्त प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति  
सत्संगति कथम किम न करोति पुंसाम ।**

अर्थात् बुद्धि से मूर्खता को हरती, वचनों से सत्यता को सींचती, प्रतिष्ठा  
को बढ़ाती, और दर्शों दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है । बताओ तो भला  
यह सत्संगति मनुष्य को क्या क्या उपलब्ध नहीं करा देती ?

तुलसीदास जी ने सत्संगति को सब मंगलों का मूल कहा है ।

**सत्संगति मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥**

यज्ञ, तप, दान जप और पंचाग्नि तपस्या से जो भक्ति कठिनाई से प्राप्त होती है, वह साधुजनों के सत्संग से सरलता पूर्वक और थोड़े समय में ही प्राप्त की जा सकती है । जिस प्रकार गूँगी को मधुर फल का रसास्वादन अन्दर ही अन्दर मिलता है, ठीक उसी प्रकार भक्तजनों को सत्संग से आनन्द प्राप्त होता है । वह आनन्दानुभूति वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती ।

## महापुरुषों का चरित्र—चिन्तन भी कल्याणकारी होता है

इस संसार में उन्नति करने—उत्थान के जितने भी साधन हैं 'सत्संग' उन सब में अधिक फलदायक और सुविधाजनक है । सत्संग का जितना गुणगान किया जाय थोड़ा है । पारस लोहे को सोना बना देता है । रामचन्द्रजी के सत्संग से रीछ बानर भी पवित्र हो गये थे । कृष्णजी के संग रहने से गाँव के गँवार समझे जाने वाले गोप गोपियाँ भक्त शिरोमणि बन गये ।

सत्संग मनुष्यों का हो सकता है और पुस्तकों का भी । श्रेष्ठ मनुष्यों के साथ उठना, बातचीत करना आदि और उत्तम पुस्तकों का अध्ययन सत्संग कहलाता है । मनुष्यों के सत्संग से जो लाभ होता है, वह पुस्तकों के सत्संग से भी सम्भव है । अन्तर इतना है कि संतजनों का प्रभाव शीघ्र पड़ता है ।

आत्म संस्कार के लिए सत्संग से सरल और श्रेष्ठ साधन दूसरा नहीं । बड़े—बड़े दुष्ट, बड़े—बड़े पापी, घोर दुराचारी, सज्जन और सच्चरित्र व्यक्ति के सम्पर्क में आकर सुधरे बिना नहीं रह सकते । सत्संग अपना ऐसा जादू डालता है कि मनुष्य की आत्मा अपने आप शुद्ध होने लगती है । महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आकर न जाने कितनों का उद्धार हो गया था, कैसे—कैसे विलासी और फैशन—परस्त सच्चे जनसेवक और परोपकारी बन गये थे । पुस्तकों का सत्संग भी आत्म—संस्कार के लिए अच्छा साधन है । इस उद्देश्य के लिए महापुरुषों के जीवन चरित्र विशेष लाभप्रद होते हैं । उनके स्वाध्याय से मनुष्य सत्कार्यों में प्रवृत्त होता है और जघन्य कार्यों से मुहँ मोड़ता है । गोस्वामी जी की रामायण में राम

का आदर्श जीवन पढ़ कर न जाने कितनों ने कुमार्ग से अपना पैर हटा लिया । महाराणा प्रताप और महाराज शिवाजी की जीवनियों ने लाखों व्यक्तियों को देश सेवा का पाठ पढ़ाया है ।

सत्संग मनुष्य के चरित्र निर्माण में बड़ा सहायक होता है । हम प्रायः देखते हैं कि जिनके घरों के बच्चे छोटे दर्जे के नीकरो-चाकरो या अशिक्षित पड़ोसियों के संसर्ग में रहते हैं वे भी असभ्य और अशिष्ट बन जाते हैं । उनमें तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाते हैं और उनमें से कितनों ही का तो समस्त जीवन बिगड़ जाता है । इसके विपरीत जो लोग अपने बच्चों की भली प्रकार देख-रेख रखते हैं, उनको भले आदमियों के पास उठने बैठने देते हैं, स्वयं भी भद्रोचित ढंग से बातचीत करते हैं, उनके बच्चे सभ्य, सुशील होते हैं, और उनकी बातचीत से सुनने वाले को प्रसन्नता होती है । इसलिये सत्संग की आवश्यकता बड़ी आयु में ही नहीं है, वरन् आरम्भ से ही है । हमको इस विषय में सचेत रहना चाहिए और खराब व्यक्तियों का संग कभी नहीं करना चाहिए ।

## स्वाध्याय भी सत्संग का ही एक रूप है

जीवन में सुख प्राप्त के लिए सत्संग का बड़ा महत्व है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज में रहना चाहता है । जीवन यात्रा के लिए वह कुछ साथी चुन लेता है जिनके साथ रहकर अपने दिन काटता है । अगर उसने गलती से बुरे साथी चुन लिये तो उसका जीवन दुःखी हो जायेगा । यदि भाग्यवश श्रेष्ठ संगी मिल गये तो उसका जीवन सरस और सुखी हो जायेगा । उनसे उसे सदा सहायता मिलेगी और वे उसे सदा हितकारी सम्मति देंगे ।

स्वाध्याय और सत्संग में बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है । एक दृष्टि से देखा जाय तो स्वाध्याय सत्संग का ही एक रूप है । सत्संग में हम एक उपदेश को किसी सन्त पुरुष के मुख से सुनते हैं और स्वाध्याय में उसी उपदेश को पुस्तक के द्वारा प्राप्त करते हैं । यह सत्य है कि अनेक उच्च कोटि के सन्तों के व्यक्तित्व का प्रभाव चमत्कारी होता है और उनके पास बैठने से जो असर पड़ता है वह पुस्तक के द्वारा नहीं पड़ सकता । पर साथ ही सह भी सत्य है कि सच्चे साधु पुरुषों की संगति सहज में प्राप्त

स्वाध्याय और सत्संग )

नहीं हो सकती और यदि प्राप्त भी हो जाय तो हम जब चाहें तब उनके पास नहीं पहुँच सकते । पुस्तकों में यह विशेषता है कि हमको जिस समय सुविधा या आकांक्षा हो उसी समय उनसे उपदेश ग्रहण किया जा सकता है, और एक बार में वह हृदय में न बैठे तो बार-बार उसको दुहरा कर मनन करके लाभ उठाया जा सकता है ।

जितने सन्त तथा महापुरुष हुए हैं उन्होंने स्वाध्याय की महिमा का गान किया है । हिन्दू शास्त्रों में लिखा है कि 'स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।'

स्वाध्याय के अर्थ के सम्बन्ध में लोगों में अनेक मत भेद हैं । कुछ लोग पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं, कुछ खास प्रकार की पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं । कुछ का कहना है कि आत्म निरीक्षण करते हुए अपनी डायरी भरने का नाम स्वाध्याय है । वेद के अध्ययन का नाम भी कुछ लोगों ने स्वाध्याय रख छोड़ा है । लेकिन इतने अर्थों का विवाद उस समय अपने आप ही समाप्त हो जाता है जब मनुष्य के ज्ञान में उसका लक्ष्य समा जाता है ।

स्वाध्याय का विश्लेषण करनेवालों ने इनके दो प्रकार से समाप्त किये हैं—

**स्वस्यात्मनो ऽध्ययनम्**—अपना, अपनी आत्मा का अध्ययन, आत्मनिरीक्षण । **स्वयमध्ययनम्**— अपने आप अध्ययन अर्थात् मनन ।

दोनों प्रकार के विश्लेषणों में स्व का ही महत्त्व है । इसीलिए शास्त्रकारों का कथन है कि—

**प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत जनश्चरितमात्मनः ।**

**किन्तु ये पशुभिस्तुल्यं किन्तु सत्पुरुषैरिव ॥**

प्रति घड़ी प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वयं के चरित्र का निरीक्षण करते रहना चाहिए कि उसका चरित्र पशुओं जैसा है अथवा सत्पुरुष जैसा । आत्म निरीक्षण की इस प्रणाली का नाम ही स्वाध्याय है । जितने महापुरुष हुए हैं वे सब इसी मार्ग का अनुसरण करते रहे । उन्होंने स्वाध्याय के इस मार्ग में कहीं भी अपने अन्दर कमी नहीं आने दी बल्कि समस्त कमियों को निकालने और पूर्णमानव बनने के उद्देश्य से इस मार्ग को ग्रहण किया ।

‘शतपथ’ ब्राह्मण में लिखा है कि पानी बहता है क्योंकि बहना ही उसका धर्म है । सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र चलते हैं क्योंकि गति करना, चलना यह उनका स्वभाव है । यदि ये अपने स्वभाव को छोड़ दें, गति हीन हो जावें तो सृष्टि का काम ही रुक जावे । ऐसे ही ब्राह्मण का स्वाभाविक काम स्वाध्याय है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन वह ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है—

**तद्गृहब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायनाधयते ।**

वेद शास्त्रों में श्रम का सबसे बड़ा महत्व है । हर एक को कुछ न कुछ श्रम नित्य प्रति करना ही चाहिए । श्रम इसी त्रिलोकी में होता है । भू, भुवः और स्वर्ग लोक ही श्रम का क्षेत्र है । इस श्रम के क्षेत्र में स्वाध्याय ही सबसे बड़ा श्रम है । योग भाष्यकार व्यास का कहना है कि—

**स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनत् ।**

**स्वाध्याय योगसंपत्या परमात्मा प्रकाशते ११२८**

अर्थात् स्वाध्याय द्वारा परमात्मा से योग करना सीखा जाता है और समस्वरूप योग से स्वाध्याय किया जाता है योग पूर्वक स्वाध्याय से ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है । अपने आपको जानने के लिये स्वाध्याय से बढ़ कर अन्य कोई उपाय नहीं है । यहाँ तक कि इससे बढ़ कर कोई पुण्य भी नहीं है । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि :—

**भावन्तंह वा इमां पृथिवी वित्तेन पूर्णा ददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसं वाक्षम्य य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते ।**

जितना पुण्य धन धान्य से पूर्ण इस समस्त पृथ्वी को दान देने से मिलता है उसका तीन गुना पुण्य तथा उससे भी अधिक पुण्य स्वाध्याय करनेवाले को प्राप्त होता है ।

मानव जीवन का धर्म ही एक मात्र आश्रय है इस धर्म के यज्ञ अध्ययन एवं दान ये ही तीन आधार हैं ।

**त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानामिति ।**

छान्दो २।३२।१

१५



अपने स्वत्व को छोड़ना दान कहलाता है और अपना कर्तव्य करना यज्ञ । लेकिन स्वत्व छोड़ने तथा कर्तव्य करने का ज्ञान देने वाला तथा उसकी तैयारी करा कर उस पथ पर अग्रसर कराने वाला स्वाध्याय या अध्ययन है ।

किन्हीं किन्हीं महापुरुषों का कहना है कि स्वाध्याय तो तप है । तप के द्वारा शक्ति का संचय होता है शक्ति के संचय से मनुष्य शक्तित्वान बनता है । घमत्कार को नमस्कार करने वाले बहुत हैं, जिसके पास शक्ति नहीं है उसे कोई भी नहीं पूछता । इसलिये जो तपस्वी हैं उनसे सभी भयभीत रहते हैं और उनके भय से समाज अपने अपने कर्तव्य का सांगोपाग पालन करता रहता है ।

तप का प्रधान अंग है एकाग्रता । निरन्तर, उत्कण्ठा पूर्वक एकाग्रता के साथ निश्चित समय पर जिस कार्य को किया जाता है उसमें अवश्य सफलता मिलती है । उत्कण्ठा से प्रेरणा मिलती है, और मन के विश्वास में दृढ़ता आती है । बिना दृढ़ता के दुनिया का कोई कार्य कभी भी सफल नहीं हुआ है । अनेकों में दृढ़ता की व्यक्ति की एकाग्रता के लिए अपेक्षा रहती है और जब नियमितता आ जाती है तो ये सब मिल कर तप का रूप धारण कर लेती है । यह तप आत्मा पर पड़े हुए मल को दूर करेगा और उसे चमका देगा ।

तप का एक मात्र कार्य आत्मा पर पड़े हुए मल को—या आवरण को दूर करने मात्र का ही है । व्यास ने स्वाध्याय को परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला इसीलिए बतलाया है क्योंकि जो आवरण के अन्धकार में चला गया है उसे प्रकट करने के लिए अन्धकार को दूर करने की आवश्यकता है ।

जीवन का उद्देश्य कुछ भी हो, उस उद्देश्य तक जाने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता होती है । स्वाध्याय जीवन के उद्देश्य तक पहुँचने की खामियों को भी दूर कर सकता है । जो स्वाध्याय नहीं करते, वे खामियों को दूर नहीं कर सकते इसलिए चाहे ब्राह्मण हो—चाहे शूद्र प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य से गिर सकता है ।

स्वाध्याय को श्रम की सीमा कहा गया है । श्रम में ही पृथ्वी से लेकर अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग तक के समस्त कर्म प्रतिष्ठित हैं । बिना

स्वाध्याय के सांगोपांग रूप से कर्म नहीं हो सकते और सांगोपांग कर्म हुए बिना सिद्धि नहीं मिल सकती । इसलिए सम्पूर्ण सिद्धियों का एक मात्र मूलमंत्र है स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण ।

आत्म निरीक्षण में अपनी शक्ति का निरीक्षण और अपने कर्म का निरीक्षण किया जाता है । शक्ति के अनुसार कर्म करने में ही सफलता मिलती है । कौन सी शक्ति किस कर्म की सफलता में सहायक हो सकती है । यह ज्ञान हुए बिना भी सफलता नहीं मिलती । ज्ञान का साधन भी स्वाध्याय ही है । इसी कारण जो ज्ञान और प्रमाद से विस्मृत हो गया हो तब उसको प्राप्त करने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता है । अप्रमत्त हो कर जिस कार्य को किया जाता है, सम्पूर्ण शक्ति जिस कार्य में लगी रहती है, उसकी सिद्धि में किंचित भी सन्देह नहीं करना चाहिए, इसीलिए ऐहिलौकिक और पारलौकिक दोनों स्थानों की सिद्धि के लिए, आत्म कल्याण के लिए निरंतर स्वाध्याय की आवश्यकता है । निरन्तर स्वाध्याय न करने से मन तथा बुद्धि में एवं प्राणों में जड़ता स्थान बना लेती है, मनुष्य प्रमादी हो जाता है । प्रमाद मानव का सबसे बड़ा शत्रु है यह उसे बीच में ही रोक लेता है । सिद्धि तक पहुँचने ही नहीं देता । इसलिए आर्य ऋषियों ने कहा है—

स्वाध्यायान्माप्रमदः—स्वाध्याय में प्रमाद न करो और अहरहः  
स्वाध्यामध्येतव्यः—रात दिन स्वाध्याय में लगे रहो ।

## वास्तविक शिक्षा स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त होती है

संसार में शिक्षा ही एक ऐसी शक्ति मानी गई है, जिसकी सहायता से मनुष्य पशु जैसी अवस्था से निकल कर विवेकशील प्राणी बन सकता है । यही कारण है कि वर्तमान समय में सार्वजनिक शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है और सर्वत्र स्कूलों और कालेजों की संख्या तेजी से बढ़ती जाती है । शिक्षा से मनुष्य का मानसिक संस्कार हो जाता है और उसकी बुद्धि चमक उठती है, पर यह तभी संभव है जब हम वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करें, दो चार वर्ष या अधिक समय तक किसी स्कूल में थोड़ी बहुत पुस्तकें पढ़ लेना और एक दो परीक्षाएँ पास

स्वाध्याय और सत्संग )

कर लेना वास्तविक शिक्षा नहीं है, स्कूल में तो पढ़ने लिखने की विधि सिखला दी जाती है और अभ्यास करा दिया जाता है । इसके बाद जब हम स्वयं उस शिक्षा की सहायता से उत्तमोत्तम और उपयोगी ग्रंथों का मनन पूर्वक स्वाध्याय करते हैं तब वास्तविक ज्ञान हमारे अन्तर में प्रविष्ट हो जाता है और हम उसका उपयोग करके अथवा उस पर आचरण करके स्वयं लाभ उठाते हैं और समाज की भी भलाई कर सकने में समर्थ होते हैं ।

स्वाध्याय का अर्थ है आत्म-शिक्षण, जिसमें हम चिन्तन, मनन और अध्ययन का भी समावेश पाते हैं । स्वयं जब हम परिश्रम के द्वारा किसी वस्तु विशेष का समाधान करते हुए उत्तरोत्तर उन्नतोन्मुख होकर किसी नवीन वस्तु की खोज के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तब उसको हम स्वाध्याय द्वारा उपार्जित वस्तु कहते हैं । नवीनता का समारम्भ किसी स्वाध्यायी व्यक्ति द्वारा हुआ और उसकी अविरल तारतम्यता उन्हीं के द्वारा चल रही है । उत्तरोत्तर नवीनता का आविष्कार होने का अर्थ है उन्नति के सोपान पर आरोहण । स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तव में ज्ञान होता है । जो ज्ञान हम बलपूर्वक किसी दूसरे से प्राप्त करते हैं वह टिकाऊ कदापि नहीं होता । वह पिंजरा बद्ध कीर की नाईं समय पढ़ने पर हमारे मस्तिष्क से फुटदका मार कर उड़ जाता है और पुनः आने का नाम नहीं लेता । संसार में जितने महापुरुष हुए हैं उनके जीवन में केवल यही विशेषता रही है कि वे अपने जीवन भर स्वाध्यायी रहे हैं । जैसे जैसे उनमें स्वाध्याय की मात्रा बढ़ती गई है तैसे-तैसे वे संसार में चमकते तथा सफल होते गये हैं ।

शिक्षा की पूर्णता स्वाध्याय द्वारा होती है । जिस शिक्षा पद्धति में जितनी ही अधिक ईश्वर प्रदत्त शक्तियों को बढ़ाने की क्षमता है वह उतनी ही सफल कही जाती है—कारण यदि उसके द्वारा हमारी उन शक्तियों का प्रस्फुरण होता है तो स्वाध्याय के द्वारा उन्हीं का तदनुरूप विकास और परिवर्तन भी होता है । यदि उसके द्वारा हमें किसी शब्द का प्रारम्भिक परिचय मिलता है तो स्वाध्याय द्वारा हम उस शब्द विशेष के अन्तराल तक पहुँचते हैं । दोनों में चोली दामन का साथ है । शिक्षा का अर्थ हमें यहाँ लिखने अथवा पढ़ने तक ही सीमित नहीं समझना

चाहिए । मैं यदि बालक को 'ताई' और 'अम्बा' कहना सिखाती है तो उसे भी हम उसकी प्रारम्भिक शिक्षा ही कहेंगे । एक व्यक्ति जो कि लिखना अथवा पढ़ना नहीं जानता वह भी स्वाध्यायी हो सकता है और स्वाध्याय के द्वारा पढ़ने अथवा लिखने की कला उसे स्वयं आ जाती है । तात्पर्य यह है कि आदर्श शिक्षा के द्वारा हम स्वाध्यायी हो सकते हैं । दोनों एक दूसरे के द्वारा साध्य हैं । अब यहाँ पर यह प्रश्न आप पूछ सकते हैं कि शिक्षितों की संख्या तो पर्याप्त है, तो क्या उतने ही स्वाध्यायी भी हैं ? इसका उत्तर यही होगा कि यदि उन शिक्षितों की शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं व्यवसायिक आदि शक्तियों का विकास एवं प्रस्फुरण प्राप्त शिक्षा द्वारा हो चुका है तो निसंदेह वे स्वाध्यायी होंगे । उपर्युक्त शक्तियों के विकास का आधारस्तम्भ शिक्षा विशेष की पद्धति में निहित रहता है । यदि हमारी शिक्षा पद्धति दूषित है तो स्वभावतः हमारी शक्तियों का हास होगा । ऐसी बात नहीं कि कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त शक्तियों के बिना संसार में आया हो । सभी में इन शक्तियों का समावेश रहता है । संस्कार और शिक्षा विशेष के द्वारा वे घटती या बढ़ती हैं । जिस तरह से उगते हुए पौदे को बढ़ाने तथा विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में जल, रोशनी और हवा आदि न मिले तो वह तुरन्त ही पीला पड़ कर तथा मुरझा कर नष्ट हो जाता है, उसी भाँति हमारी ईश्वर प्रदत्त इन शक्तियों का भी हाल है । यथेष्ट शिक्षा के अभाव में इनका विनष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है । उस समय हम कहते हैं कि अमुक लड़का अपने शुरू जीवन से ही भौंदा और मन्द बुद्धि का है । उसमें किसी भी तरह के काम को करने की क्षमता तनिक भी नहीं है । वहाँ प्रकृति का दोष नहीं—शिक्षा तथा संस्कार विशेष का दोष होता है । किसी वस्तु को देखने की शक्ति तो सभी को प्राप्त है किन्तु निरीक्षण की शक्ति उसी में रहती है जिसकी कि शक्ति शिक्षा और तदुपरांत स्वाध्याय द्वारा विकसित हो चुकी हो । पेड़ से गिरते हुए फलों और पत्तों को आदि काल से लोग देखते आ रहे हैं किन्तु सर आइजक न्यूटन ही एक ऐसा व्यक्ति था कि जिसने अपनी निरीक्षण शक्ति के द्वारा इस बात को सिद्ध कर दिखाया कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है । अस्तु, लिखने—पढ़ने, चलने—फिरने, देखने—सुनने तथा स्थूल जगत् की व्यवहारिक बातों का

ज्ञान तो प्रायः अधिकांश शिक्षित संज्ञक लोगों में होता ही है किन्तु क्या वे पूर्ण शक्ति होते हैं ? स्वाध्याय हीन शिक्षा व्यर्थ और अनुपादेय होती है और स्वाध्यायशील न होता हुआ शिक्षित अशिक्षित ही है ।

शिक्षा तथा संस्कार के अतिरिक्त स्वाध्यायी व्यक्तियों में कतिपय अलौकिक गुण भी होते हैं उनके विचारों में दृढ़ता का होना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि स्वाध्याय की साधना करते हुए न मालुम कितनी जगहों से उन्हें विचलित होना पड़ता है । कभी कभी हानि भी उठानी पड़ती है तब कहीं जाकर उन्हें सफलता मिलती है ॥ सच है सुकार्य सदा ही कष्ट साध्य है । एकलव्य जब गुरु द्रोणाचार्य जी के यहाँ शिक्षा के हेतु जाता है तो उसे गुरुजी महाराज किन शब्दों द्वारा दुत्कार देते हैं । यदि उसमें दृढ़ संकल्प न होता तो तत्काल ही निरुत्साहित होकर अपने घर लौट जाता । किन्तु नहीं, उसकी स्वाध्यायशीलता और भी अधिक जागृत हो उठती है । फलतः एक दिन वही एकलव्य अर्जुन से बढ़ कर धनुर्धर के रूपमें गुरुजी के सामने आता है । अब आप अनुमान लगा सकते हैं कि स्वाध्याय में इतनी शक्ति है कि बिना शिक्षक अथवा रास्ता दिखा देनेवाले के भी आगे सफलता पूर्वक बढ़ सकता है ।

स्वाध्यायी व्यक्तियों में एकाकीपन और लोककल्याण की भावना अधिक रहती है । यह बात स्वाभाविक ही है कि एकाकीपन में हम अपने मस्तिष्क का सन्तुलन अधिकाधिक कर पाते हैं । कवियों और कलाकारों के जीवन चरित्र को पढ़ते समय हम उनके आरम्भिक जीवन के पन्ने को जब पलटते हैं तो पता चलता है कि वे एकाकी अवस्था में रहकर घंटों पहले गुणगुनाया करते थे । हाँ, एकाकीपन और प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है । एकाकीपन को पसन्द करनेवाला व्यक्ति प्रकृति प्रेमी होता है । प्रकृति का अध्ययन कितना मनोरंजक और ज्ञान वर्धक होता है । निरीक्षण शक्ति प्रधान वाला व्यक्ति सदा प्रकृति-प्रेमी ही रहा है । ज्ञान का अगाध समुद्र प्रकृति में वर्तमान है । स्वाध्यायी उसमें डुबकियों लगाते हैं और मोतियों की लड़ी निकालते चले जाते हैं- धूरे में प्राण नाशक शक्ति वर्तमान है, पेड़ से गिर जाने पर पत्ते सीधे जमीन पर ही विश्राम लेते हैं, अवश्य पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है । आदि आदि ।

सदाचार और स्वाध्याय का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सच्चरित्र व्यक्ति

ही स्वाध्यायी होता है । दुश्चरित्रों में इतनी सामर्थ्य कहीं कि वे किसी वस्तु विशेष पर अधिक काल तक मनन और अध्ययन कर सकें । उनकी नैतिक शक्ति नष्ट रहती है अतः वे उचित अनुचित तथा तथ्य युक्त और निस्सार वस्तुओं की सम्यक विवेचना ही नहीं कर सकते हैं । जब उनमें विवेचना करने की शक्ति ही वर्तमान नहीं है तो भला वे आगे क्या बढ़ सकते हैं । सदाचार से ही शारीरिक स्वास्थ्य और औद्योगिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है । बिना स्वास्थ्य के संसार में हम किसी भी प्रकार की साधना नहीं कर सकते हैं तथा औद्योगिक प्रवृत्ति में हम सदैव आगे बढ़ने से हिचकते रहेंगे ।

स्वाध्यायी पुरुषों से युक्त देश का ही भविष्य उज्ज्वल है और वही उन्नतिशील राष्ट्रों के समकक्ष बैठने का भी अधिकारी है । हमें स्वाध्यायी बनाने के लिए हमारी शिक्षापद्धति विशेषरूप से सहयोग प्रदान करती है । शिक्षा की पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि हमारी ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का विकास हो सके । उन शक्तियों का विकास होने पर हम में उपयुक्त गुण स्वभावतः आ जायेंगे । इस दृष्टि से आधुनिक शिक्षा पद्धति अत्यन्त दूषित है और हमें निकम्मा बनाने वाली है ।

## सत्संग का मार्ग और उसके लाभ

सांसारिक मनुष्यों के लिये आत्मोद्धार के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं, जैसे जप, तप, योग, तीर्थ दान परोपकार यज्ञ आदि । ये सभी कार्य यदि उचित रीति से किये जायें तो मनुष्य को आत्मोन्नति की सीढ़ियों पर चढ़ानेवाले और परमात्मा के निकट पहुँचाने वाले हैं । पर इन सब धर्म कार्यों के लिये सत्संग का होना आवश्यक है । बिना सत्संग के मनुष्य की रुचि इन कार्यों की तरफ चली जाय ऐसा बहुत ही कम देखने में आता है । अधिकांश मनुष्य किसी न किसी निकटवर्ती या दूरदर्शी सन्त पुरुष के उपदेश अथवा प्रेरणा से ही आत्मोन्नति के मार्ग की तरफ आकर्षित होते हैं इसलिए 'योगवाशिष्ठ' में कहा गया है—

यः स्नातः शीत शितिया साधु संगति गंगया ।

किं तस्य दानैः किं तपोभिः किमध्वरैः योगवा ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति साधु संगति रूपी शीतल निर्मल गंगा में स्नान

करता है उसे फिर किसी तीर्थ, तप, दान और यज्ञ, योग आदि की क्या आवश्यकता है ।

मनुष्य का सर्व प्रथम कर्त्तव्य संसार में यही है कि स्वयं को और अपने प्रिय जनों को सत्संगति की तरफ प्रेरित करे । आप अपनी संतान को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए, विद्या, बुद्धि, बल आदि प्राप्त करने का उपदेश देते हो, उसके लिए हर तरह के साधन जुटाते हो, जो कुछ सम्भव होता है प्रत्येक प्रयत्न करते हो । पर इन बातों के साथ तुमने उनको सत्संग की प्रेरणा नहीं दी, उनको नीच वृत्ति वाले लोगों का संग करने दिया तो अन्य समस्त सफलताएँ व्यर्थ हो जायेंगी । सत्संग ही वह प्रेरक शक्ति है जो अन्य प्रकार की शक्तियों को उपयोगी और हितकारी मार्ग पर चलाती है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल सर्वत्र दिखलाई पड़ रहा है । सब तरह से समझदार, चतुर और विद्या सम्पन्न व्यक्ति छोटे कामों में संलग्न है । चोर और डाकुओं में कालेज के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी सम्मिलित पाये जाते हैं । अनेक उच्च पदवी प्राप्त और सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्ति डकैती, लूट और अपहरण जैसे महाजघन्य कार्यों में भाग लेने वाले सिद्ध हो चुके हैं । विद्या और बुद्धि का ऐसा दुरुपयोग सत्संग के अभाव का ही परिणाम है । यदि ऐसे व्यक्तियों को आरम्भ से ही यह उपदेश मिलता कि सांसारिक धन, वैभव और सफलता तभी तक कल्याणकारी हैं जब तक वे सुमार्ग पर अग्रसर हों, उनका सदुपयोग किया जाय तो वे ऐसे मार्ग को अंगीकार न करते । अगर इन शक्तियों का दुरुपयोग किया जायेगा तो निस्सन्देह वे हानिकारक और पतनकारी सिद्ध होंगी, इसलिये माता पिता और संरक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे आरम्भ से ही बालकों की शिक्षा में पढ़ना-लिखना सीखने के साथ-साथ सद्गुणों की वृद्धि पर भी अवश्य ध्यान दें । वर्तमान समय में स्कूलों और कालेजों के लड़कों में उच्छृंखलता और नैतिक पतन के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि आजकल लड़कों को केवल किताबी शिक्षा दिला देना ही माता-पिता ने अपना कर्त्तव्य समझ लिया है । वे इस बात का ध्यान नहीं करते कि आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं का वातावरण कैसा है तथा वहाँ के अनेक विद्यार्थियों और मास्टर्स तक में चरित्र हीनता का दोष

( स्वाध्याय और सत्संग

किस दर्जे तक बढ़ा हुआ है । हमारा तो यह असंदिग्ध मत है कि बच्चों को कम से कम आरम्भिक वर्षों में तो ऐसी ही शिक्षा संस्थाओं में भेजा जाय जिनमें उनको सत्संगति प्राप्त हो सके और मानव जीवन के सद्गुणों की प्रेरणा मिल सके । ऐसा करने से अगर किताबी पढ़ाई-लिखाई और परीक्षाओं में कुछ विलम्ब भी हो जाय तो हर्ज की बात नहीं ।

इसी प्रकार नव-युवकों और वयस्कों का भी कर्तव्य है कि वे स्वयं अपने इर्दगिर्द के वातावरण पर दृष्टि रखें और इस विषय में सदैव सतर्क रहें कि उनकी संगति हीन-चरित्र के व्यक्तियों से न हो । अगर वे इस विषय में सावधानी से काम लेंगे और श्रेष्ठ चरित्र के व्यक्तियों में से अपने साथी चुनेंगे तो वे सब प्रकार से उन्नति की ओर अग्रसर हो सकेंगे । नियमित इष्ट-मित्रों के अतिरिक्त उनको कभी कभी किसी उच्च कोटि के ज्ञानी और महात्मा पुरुष के संसर्ग में आना भी आवश्यक है । हमारे कहने का यह आशय नहीं कि वे जंगलों और पहाड़ों में ही साधु-महात्माओं या सिद्ध पुरुषों को ढूँढते फिरें । वरन् वे अपने नगर के ही किसी सच्चरित्र विद्वान उपदेशक या संस्था से सम्पर्क रखें और समय समय पर उनके द्वारा सद्विचार ग्रहण करते रहें तो उनका मानसिक उत्थान होता रहेगा और वे दुर्गुणों से बचते रहेंगे । जहाँ इनमें से कोई भी साधन नहीं वहाँ नियमित रूप से सद् ग्रन्थों, आत्म-निर्माण करने वाली पुस्तकों का स्वाध्याय करना चाहिए । इससे भी मन बुरे विचारों से बचता है और सद्भावनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं ।

सत्संग से विवेक जागृत होता है और मनुष्य भले-बुरे का निर्णय कर सकने में समर्थ हाता है । संसार में नित्य अनेक घटनाएँ होती रहती हैं, जिनमें से किसी का भला और बुरा प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है । यदि इन घटनाओं की वास्तविकता को नहीं समझ सकते, उनके भले और बुरे प्रभावों से अन्तर्मन को पृथक रखने की सामर्थ्य नहीं रखते तो अवश्य ही हमको क्षणस्थायी सुख और दुःख की तरंगों में बहना पड़ता है । इस प्रकार सामयिक परिस्थितियों के हाथों का खिलौना बनना मनुष्य के लिये न तो शोभा देता है और न हितकर सिद्ध हो सकता है । हमारा मनुष्यत्व इसी में है कि हम सुख-दुःख दोनों में अपना मानसिक संतुलन स्थिर रखें और आसक्ति के भाव को जहाँ तक सम्भव हो कम कर दें ।



इस प्रकार की मनोवृत्ति सत्संग और स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । गोसाई जी ने सत्य ही कहा है—

**मति कीरति गति भूत भलाई, जब जेहिं जतन जहैं जो पाई ।**

**सो जानव सतसंग प्रभाऊ, लोकहु वेद न आन उपाऊ ॥**

भारत की प्राचीन कथाओं से भी विदित होता है कि यहाँ के बड़े बड़े ऋषि महर्षि जन्म से बहुत ही छोटे कुलों के थे, पर सत्संगति के प्रभाव से वे जगत पूज्य बन गये और अभी तक उनका नाम बड़ी श्रद्धा भक्ति से लिया जाता है । बाल्मिकी जी बहेलिया, नारद जी दासी पुत्र, अगस्त जी घड़े से उत्पन्न, वशिष्ठ जी वेश्या पुत्र माने गये हैं, पर आत्म-परायण संत पुरुषों की संगति से उन्होंने अकथनीय उन्नति की और बहुत ऊँची पदवी पर जा पहुँचे । इन उदाहरणों से स्पष्ट जान पड़ता है कि जो कोई अपना जीवन सार्थक करना चाहता है, इस नर जन्म का सदुपयोग करने की कामना रखता है उसे त्यागी, विरक्त गुरुओं की संगति अवश्य करनी चाहिए ।

सत्संग और स्वाध्याय इस कंटकाकीर्ण संसार को पार करने के लिए परम उपयोगी साधन हैं । वर्तमान समय में संसार में स्वार्थ और अपहरण की जो भयंकर आँधी उठी हुई है उसमें वही व्यक्ति निश्चल रह सकता है जो स्वार्थी और घूर्त प्रकृति के लोगों से दूर रह कर सज्जन और सत्य-प्रिय व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है । ऐसे श्रेष्ठ प्रकृति के व्यक्ति जहाँ तक संभव होगा आपको हित की सम्मति ही देंगे और बुरे मार्ग पर चलता देखेंगे तो पहले से सावधान कर देंगे । स्वार्थी व्यक्ति तो ऐसे अवसर पर ऊपर से दो धक्के और देते हैं, जिससे उनका कुछ लाभ हो सके । इसलिए आत्म-कल्याण के अभिलाषी मनुष्यों को इस सम्बन्ध में सदैव सावधान रहकर श्रेष्ठ जनों की संगति को ही ग्रहण करना चाहिए ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा